क्षेमराज विरचित

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

[रचना-काल : दशवीं शताब्दी]

[redacted]काकार

[redacted]णुतीर्थ जी महाराज

क्षेमराज विरचित

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

4095
1/58-83

●

— टीकाकार —

श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

●

मूल्य : ३-००

प्रकाशक—
योग श्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन)
मुनी की रेती (टिहरी गढवाल) उ० प्र०
पो० ऋषिकेश - २४८२०१

सर्वाधिकार प्रकाशक के सुरक्षित

प्रथम बार— १००० प्रतियां
द्वितिय संस्करण-२००० प्रतियां

मुद्रक—
सवेरा प्रिंटिंग इंडिया
के-२१/५०, वैस्ट घौण्डा
दिल्ली-११००५३

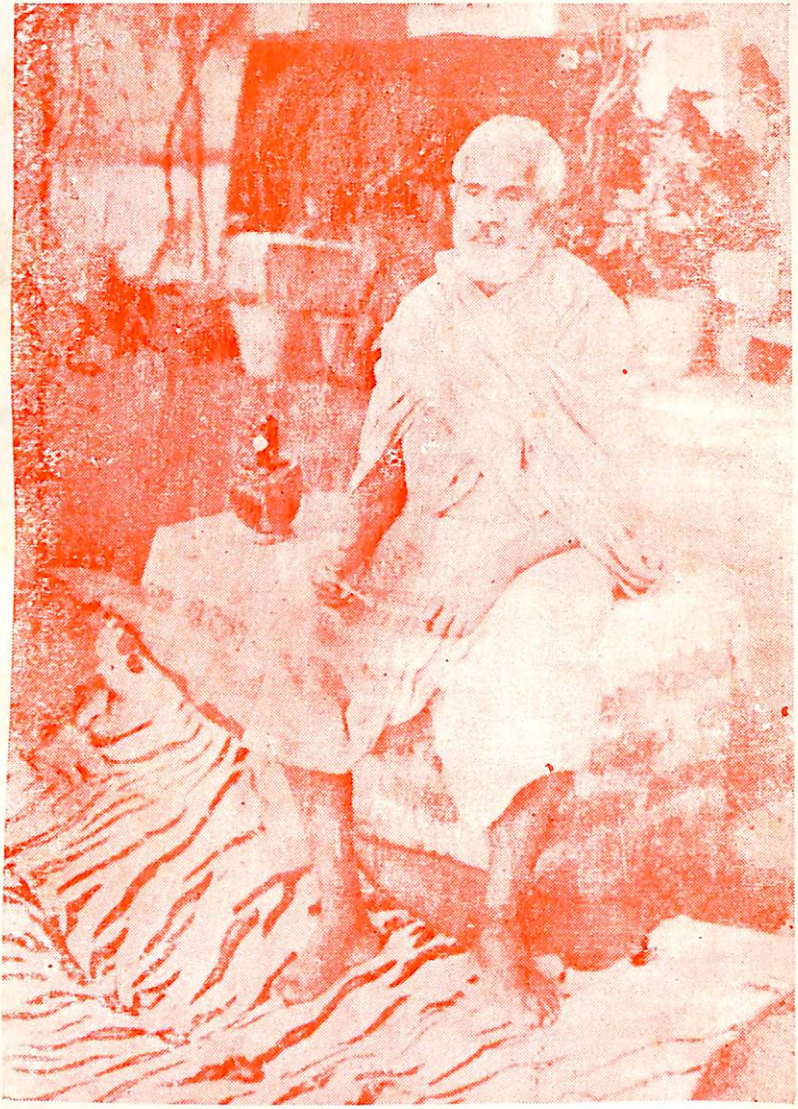

भूमिका

ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, की त्रिपुटी रहती है। जिस का ज्ञान होता है उसे ज्ञेय और जिसे ज्ञान होता है उसे ज्ञाता कहते हैं। अब प्रश्न है कि ज्ञान किसे होता है? स्वाभाविक उत्तर दिया जायगा कि आत्मा को, जो चेतन है। परन्तु ज्ञेय विषय न रहे तब ज्ञाता का रूप क्या होना चाहिये? ज्ञेय की स्मृति रहेगी। स्मृति भी न रहे तो उसका संस्कार रहेगा। संस्कार कहां रहता है? संस्कार चित्त पर अङ्कित रहते हैं जिसे संस्काराशय कहते हैं। आत्मा चित्त से पृथक् असंग है, इसलिये आत्मा में चित्त के संयोग से ज्ञातृत्व होता है। चित्त से असंग रहने पर आत्मा में ज्ञातृत्व नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञातृत्व सोपाधिक है अर्थात् आत्म तत्व का धर्म नहीं। आत्मा ज्ञाता नहीं, ज्ञः है। जानना, समझना बुद्धि का धर्म है जो चित्त के संस्कारों के तंत्र है तथा पूर्व संस्कारों के अनुसार जानती, समझती एवं पहचानती है। पहचानने में स्मृति का भी योग होता है। पहचानने से पूर्व याद करती है और उसकी याद भी पूर्व संस्कारों के तंत्र (अधीन) होती है।

स्मृति भी चित्त की एक वृत्ति है। याद आना अभिज्ञान कहलाता है और फिर उस विषय के समक्ष होने पर पहचाना जाता है। पहचानने को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। कभी-कभी स्वप्न अथवा मानसिक चिन्तन में ज्ञेय विषय का अभाव रहने तथा उस विषय के मूर्तिमान दिखने पर भी याद आना और पहचानना दोनों क्रियायें होती हैं, इसलिये प्रत्यभिज्ञान के लिये ज्ञेय विषय के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं। ज्ञः स्वरूप आत्मा जानने मात्र की शक्ति रखता है, बुद्धि के यंत्र द्वारा जानता है, स्मृति द्वारा याद करके पहचानता है, अहंकार से युक्त होकर ज्ञाता बनता है और कहता है—'मैं जानता हूँ' एवं श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, रसना तथा घ्राण की इन्द्रियों द्वारा सुनता, स्पर्श करता, देखता, चखता, सूंघता तथा मन, बुद्धि, स्मृति, अहंकार से युक्त होकर ज्ञेय के ज्ञान से संपन्न होता है।

जगत के पदार्थों एवं दृश्यों के काल्पनिक भाव से युक्त तथा रहित दोनों प्रकार का ज्ञेय हो सकता है। योगदर्शन में उसे चित्त की वृत्ति कहा है। भावयुक्त वृत्ति दो प्रकार की होती है—(१) प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम), (२) विपर्यय जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान, और भावरहित वृत्ति के रूप हैं—(३) विकल्प, (४) स्मृति, और (५) त्रिपुटि रहित वृत्ति को निद्रा कहते हैं। ये पांचों वृत्तियां चित्त के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इन पांचों वत्तियों के निरोध को समाधि कहते हैं—'तदा

द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्, वृत्ति सारूप्य मितत्र।' ऊपर हम संस्काराशय का जिकर कर आये हैं। वह रिकार्डर के सदृश है। जगत को यदि नाटक से उपमित किया जाय तो संस्कार-आशय पुस्तक का कार्य करता है जिस की सहायता से नाटक के दृश्य को समझा जाय और यदि उसे चलचित्र से उपमा दी जाय तो सस्काराशय ही वह टेपरिकार्डर है जो ज्ञः के प्रकाश में चित्त के पर्दे पर चलचित्र का निर्माण करता है।

ज्ञः स्वरूप आत्मा जब अपने प्रकाश को तिरोहित कर लेता है अर्थात् ज्ञःनेत्र को बन्द कर लेता है तो उसे सुषुप्ति कहते हैं। तब चित्त रूपी पर्दे पर अन्धकार छा जाता है जिसे निद्रा की वृत्ति कहते हैं। स्वप्न में कभी-कभी ज्ञःनेत्र खुल जाता है और स्वप्न रूपी चलचित्र का निर्माण हो जाता है। इसे आत्मा का उन्मेष कहा जा सकता है। परन्तु वह जागृतावस्था से इसलिये भिन्न होता है कि वह उन्मेष संस्काराशय तक ही सीमित होता है। उसमें स्मृति, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियों और देह के ही पूर्व अङ्कित संस्कार व्यक्त होते हैं, जागृति के नहीं। उसे स्वप्न-सृष्टि और निद्रा को स्वप्न-सृष्टि की प्रलय कहा जा सकता है।

वास्तव में बाह्य जगत् के ज्ञेय पदार्थ को तो उसके ज्ञान के उद्रेक के लिये निमित्त जानना चाहिये, ज्ञान पहिले से संस्काराशय में विद्यमान है। बाह्य नाम-रूपात्मक प्रपंच का कोई पदार्थ नित्य नहीं, यहां सब कुछ परिणामी और नश्वर

है। प्रतिक्षण ज्ञेय वस्तु का रूप बदल रहा है, इसलिये पहिले देखी वस्तु को कालान्तर में पहिचाना नहीं जाता कि यह वही है। मनुष्य किसी भी वस्तु की उपयोगिता एवं सार्थकता का मूल्याङ्कन भी अपने संस्कारों के अनुसार करता है अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटि बाह्य दृश्य जगत् से सर्वथा स्वतन्त्र है, तो भी मनुष्य अपने को बाह्य जगत् के आश्रित मानकर बंधन में पड़ा है। त्रिपुटि भी ज्ञाता के तंत्र है, ज्ञः के कारण उदित और अस्त होती रहती है, उसे बाह्य प्रपंच से प्रयुक्त करना या न करना ज्ञाता के अधीन है। उसका वास्तव में बाह्य दृश्य से नैमित्तिक सम्बन्ध है। बाह्य ज्ञान द्वारा मानसिक प्रसन्नता, अप्रसन्नता, द्वेष, क्रोध, भयादि के भाव सदा एक समान नहीं रहते। वही पदार्थ अथवा व्यक्ति जो प्रेम का पात्र था, दुःख का कारण या शत्रु दीखने लगता है और इसके विपरीत भी देखा जाता है। कोई ज्ञेय अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका ज्ञान कभी राग, कभी द्वेष अथवा भयोत्पादक हो सकता है। इसलिये श्रुतिवचन है—

त्रिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥

—प्रश्न ५-६

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय को यहां मात्रा कहा गया है। ये तीनों

मात्रा एक दूसरे से परस्पर मिली हुई हैं अर्थात् कोई-सी भी अन्य दो के बिना नहीं रह सकती। किसी कार्य के लिए विशेष रूप से उनका प्रयुक्त होना अनिवार्य भी नहीं तथा बाह्य जगत् के कार्यों में अभ्यन्तर और मध्य,ध्यान, संकल्प, विचार-विमर्ष की क्रियाओं में प्रयुक्त मृत्युमती हैं। यदि वे खूब प्रयुक्त हों तब भी ज्ञः कंपित नहीं होता। मृत्युमत्यः कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञेय विषय अनित्य, नश्वर, सांसारिक से सम्बन्धित हैं, तत् सम्बन्धी सब कार्य, उनका चिन्तन आदि सब विनाशशील है, इसलिये आत्मस्थिति रूप अमृतत्व से मनुष्य विमुख रहता है और भौतिक विषयों में फंसकर मृत्यु से क्रीड़ा करता है। गीता में श्री भगवान् ने इसीलिए कहा है—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

—गीता १३, १२-१७

बाह्य जगत के नाम-रूपात्मक ज्ञेय विषयों का ज्ञान बंधन का कारण है। इसीलिए भगवान् के कथनानुसार अपने हृदय में स्थित ईश्वर को ही जानना चाहिये। ब्रह्म सब ज्योतियों की ज्योति है, दृष्टि उसी के प्रकाश से देखती है, बुद्धि उसी के प्रकाश से जानती है। उसे ही अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाना चाहिये। वेदान्त के मतानुसार जीव ब्रह्म ही है। उसकी ब्रह्म से

विजातीय अथवा सजातीय भिन्नता नहीं है। इसलिए, 'आत्म-संस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (गीता ६-२५) अर्थात् ज्ञाता अपने को ही ज्ञेय बनाकर उसका चिन्तन करता है। सांसारिक विषयों का अभाव होने पर ज्ञाता को अपने अस्तित्व का ज्ञान तो रहता है, परन्तु यह ज्ञान देहात्मबुद्धि के आधार पर है। ज्ञाता अपने स्वरूप को कैसे जाने-पहचाने, क्योंकि जानना-पहचानना तो भूली हुई वस्तु का होता है। ज्ञाता अपने आप को सदा जानता है। तब आत्मज्ञान से अभिप्राय यही है कि देहात्मज्ञान आत्मा नहीं है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना है। फिर प्रत्यभिज्ञान शब्द आत्मज्ञान के लिए कैसे प्रयुक्त किया गया है ?

एक मनुष्य रुग्णावस्था के पश्चात् अपना मुख दर्पण में देखकर कहता है कि मेरी आकृति में बड़ा अन्तर हो गया अथवा एक वृद्ध व्यक्ति अपने युवावस्था के चित्र को देखकर सहसा उसे नहीं पहचानता, परन्तु ध्यानपूर्वक देखकर पहचान लेता है। इसी प्रकार देहात्मबुद्धि वाला व्यक्ति अज्ञान-रोग-ग्रस्त होने के कारण अपने असली स्वरूप को भूला हुआ है। अपना असली रूप देखकर तब उसे पहचानेगा। देहात्मबुद्धियुक्त ज्ञाता अपने असली स्वरूप को ज्ञेय रूप से अनुभव करके पहचानेगा। वह कैसे ?—यह यहां बताया जाता है। वह असली स्वरूप परमात्मा ही है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'—गीता

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ताभोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन पुरुषः परः ॥'—गीता

इसीलिए श्रीभगवान् ने उसे 'ज्ञेयं ज्ञानं ज्ञानगम्यं' कहा है।

पातञ्जल योगदर्शन का कथन है कि ईश्वर के नाम का जप और उसके स्वरूप की भावना द्वारा उसकी प्रत्यक् चेतना की प्राप्ति होती है अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव होता है। सूत्र इस प्रकार है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥१-२८

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१-२९

अर्थात् जप एवं भावना द्वारा प्रत्यक् चेतना की उपलब्धि और अन्तरायों का अभाव होता है। उस प्रत्यक् चेतना की उपलब्धि कैसे होती है ? इसको व्यास जी अपने भाष्य में इन शब्दों में समझाते हैं—

'यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गः ।
तथाऽयमपि बुद्धिः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छतिः ॥'

जैसे ईश्वर शुद्ध, प्रसन्न, केवल, सब काम-क्रोधादि राग-द्वेष-भय रहित पुरुष है, वैसा ही यह बुद्धि-प्रतिसंवेदी बुद्धि में ज्ञात पुरुष जो अनुभवगम्य होता है, उसे प्राप्त करता है। अर्थात् उसकी देहात्मबुद्धि की चेतना जो क्षेत्र का अङ्ग है, बुद्धि में अपने से अन्य ईश्वरीयगुणयुक्त चेतना को देखती है और पहचानती है कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है। जैसे

भूले हुए अपने युवाकालीन चित्र को देखकर मनुष्य पहचानता है कि यह मेरा चित्र है और यह वर्तमान रोगाक्रान्त रूप इसी की विकृति है। बंधन में पड़े जीव को पशु की संज्ञा दी जाती है।

'देवा यद्यज्ञं अवध्नन पुरुषं पशुम् ॥'

इसी आधार पर शैवदार्शनिक भी जीव को पशु और शंकर को पशुपति कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि देह में बंधा हुआ पशु और देहबुद्धि से मुक्त पशुपति है। जब पशु रूपी चेतना ईश्वर अर्थात् पशुपति की प्रत्यक् चेतना को साक्षात् देखने लगती है तो उसकी पशुबुद्धि का निराकरण कैसे, किस क्रम से होता है? यह शिवसूत्र में बताया गया है। देह से बांधने वाले बंधन रूपी रस्सी को पशुशक्ति कहा है जिसे काटने के लिए पशुशक्ति की विरोधी अपशुशक्ति जागृत करना आवश्यक है, जिसका उपाय निम्न सूत्र में कहा है—

'शुद्धतत्त्वानुसंधानात् वा अपशुशक्तिः।'—शिवसूत्र १-१६

अर्थ—शुद्ध तत्व के अनुसंधान से अपशुशक्ति जागृत होती है। अनुसंधान का अर्थ सूक्ष्म बुद्धि की विवेक शक्ति द्वारा देखना, समझना, जानना होता है। बुद्धि-प्रति-संवेदी चेतना द्वारा प्रत्यक् चेतना ईश्वर के अनुसंधान द्वारा पाशविक बंधन रूपी राग, द्वेष, भय आदि पाश ज्यों-ज्यों शिथिल होते जाते हैं, अपशु-शक्ति की जागृति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अनुभव करने लगता है कि उसका यह रूप भ्रांति अथवा अज्ञान

के कारण समझा हुआ था। उसे अपने विस्मृत असली रूप की स्मृति आने लगती है। जैसे-जैसे उसमें दैवी गुणों का प्रादुर्भाव होता है, वह अनुभव करने लगता है कि वह दिव्य पुरुष है, पाशबद्ध पशु नहीं। शिवसूत्रकार ने विकासोन्मुख क्रम से साधक में जिन दिव्य भावों के प्रकट होने का वर्णन किया है, वे यहाँ दिये जाते हैं :— भैरवी भाव (१, ५), वीर भाव (१, ११), शाक्त भाव (१, १३), अपशु भाव (१, १६), शिवावस्था भाव (२, ५), सिद्धभाव (३, १३), शिवतुल्य भाव (३, २५), केवली भाव (३, ३४), शिव भाव (३, ४२)। इन्हें पशु भाव से शिव भाव पर आरूढ़ होने तक का सोपान-क्रम कहा जा सकता है। उसकी यह धारणा कि मैं देह हूं, शनैः-शनैः कम होने लगती है और वह अपने वास्तविक शिवस्वरूप को पहचानने लगता है। जैसे-जैसे पाशविक वृत्तियां क्षीण होती हैं और दिव्य भाव प्रकट होते जाते हैं, वह अपने वास्तविक स्वरूप में रहने लगता है। इसी अभिप्राय से अर्जुन ने श्री भगवान् से प्रश्न किया था कि ऐसा मनुष्य कैसे बैठता-उठता है, चलता-फिरता है अर्थात् उसके व्यवहार में क्या परिवर्तन होता है? श्री भगवान् ने उत्तर में स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे हैं कि वह आत्माराम हो जाता है, दुःखों से घबराता नहीं, सांसारिक भोग रूप सुखों की इच्छा नहीं करता और न किसी प्रकार का भय मानता है। सदा ब्रह्म भाव में रहने लगता है।

भोगों के साधन-रूप इस नश्वर भौतिक देह में आसक्त

भोगपरायण मनुष्य को पशु तुल्य कहा गया है। 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।' अंग्रेजी में भी कहावत है कि मनुष्य समझदार पशु है, परन्तु खेद का विषय है कि समझ-बूझ होने पर भी पशु है और अपना भला-बुरा नहीं सोचता। पशु से पशुपति बनना तो दूर की बात, मानव भी नहीं बनता। कभी-कभी तो असुरों, राक्षसों सदृश्य व्यवहार करता है। भोगों के साधनोपलब्धि के निमित्त धन कमाने और धन प्राप्त करने के लिए क्या नहीं करता? पशुपति बनने का मार्ग इससे विपरीत है। उसका जीवन यज्ञमय और उसका शरीर यज्ञ की हवि होता है। शिवसूत्रकार कहते हैं—'शरीरं हविः' (२, ८), 'ज्ञानमन्नम्' (२,६) अर्थात् उसका शरीर हवि और उसका भोजन ज्ञान है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

—गीता ४, २६-२७

ऊपर कह आए हैं कि शुद्ध तत्त्व के अनुसंधान द्वारा अपशु शक्ति जागृत होती है और तदर्थ उसे किसी मार्गदर्शन की शरण लेनी पड़ती है—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः ।।'

— गीता ४-३४

शिवसूत्रकार भी कहते हैं—'गुरुरुपायः' (१-६)—अर्थात् अपश शक्ति को जगाने का उपाय गुरु से दीक्षा ग्रहण करना है। तब—'मातृका चक्र संबोधः' (२-७)—मंत्र-चेतन शक्ति जागृत होती है जिसके आधार पर भोगासक्त चित्त विषयों से उपरत होकर शुद्ध तत्त्वों के अनुसंधान में प्रवृत्त होता है, क्योंकि—'चित्तं मन्त्रः' (शिवसूत्र २, १)—चित्त ही मन्त्र है। मातृका वर्णमाला को कहते हैं और वर्णों से मन्त्र की रचना होती है, परन्तु उसमें शक्ति जप द्वारा आती है और जप चित्त की क्रिया है, इसलिये चित्त अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को छोड़कर अन्तर्मुख होने लगता है । यही सब साधनों का रहस्य है। मातृका का अर्थ प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय की त्रिपुटी से सम्बन्धित है। प्रमा अर्थात ज्ञः चित्त के योग से प्रमाता है, इसलिए मातृका चक्र की पीठ चित्त ही है।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि साधक में जो उपर्युक्त भाव जागृत होते हैं, उनका उद्गम कहां से होता है ? यदि उनका उद्गम स्थान बाह्य-स्थित गुरु अथवा उपास्य देव का कृपा-प्रसाद बाहर से प्राप्त है, तो उन्हें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति माना जायगा और यदि उसको अध्यात्म-विकास के विभिन्न स्तर कहा जाय तो उन्हें अव्यक्त दशा से व्यक्त होना कहा

जाना उचित है। यही बात बालक के शिक्षण द्वारा बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी का आधार बाह्य दृश्य नैमित्तिक है, त्रिपुटी वास्तव में प्रमा ज्ञः स्वरूप आत्मा का प्रक्षेप है। गीता में श्री भगवान् कहते हैं—

अक्षरं ब्रह्मपरमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः॥—८-३

और जीव ब्रह्म ही है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'
—५, ७

इसलिये जो सिद्धान्त ब्रह्म के लिये है, वह जीव भाव में भी तद्वत् है। अर्थात् ज्ञः से अध्यात्म 'अहं-भाव' के उदय के साथ युगपद् ही भूतभाव 'इदम्' का उदय होता है अथवा यों कहें कि ज्ञातृत्व के साथ ज्ञेयत्व का उदय होता है। बाह्य प्रपंच जो आदि ब्रह्म का भूत भाव है, जीव के भूतभाव में अणुरूप से अथवा बीजरूप से पहिले से ही विद्यमान है और ज्ञाता, ज्ञेय का प्रत्यभिज्ञान सम्बन्ध है। योगदर्शन इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहता है कि ईश्वर (पुरुष विशेष) प्रत्येक मनुष्य के साथ सर्वज्ञता के बीज के रूप में स्थित है—

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्व बीजम्।'—१, २५

श्री भगवान् यही बात इस प्रकार कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ को मेरा ही रूप जान। क्षेत्रज्ञ जीव है,—'परन्तु क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'—१३, २।

क्षेत्रज्ञ 'आत्मा का बुद्धि से संयुक्त रूप' है अर्थात् बुद्धि की सहायता से शरीर रूपी क्षेत्र के ज्ञातृत्व के कारण आत्मा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और उसे बुद्धिगत परिमित ज्ञेय का ज्ञान होता है। बुद्धि के विकास के साथ-साथ उस ज्ञान की वृद्धि होती है। योग दर्शन का कथन है कि बुद्धि और पुरुष की अन्यता की ख्याति होने पर योगी सर्वज्ञ और सर्व भावों के अधिष्ठाता पशुपति शिव के तुल्य हो जाता है। 'सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च (३, ४६)। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध तत्व के अनुसंधान द्वारा उस शान्ति का उदय होता है जो क्षेत्र की अणु बुद्धि से स्वतंत्र है और दैवी अध्यात्म शक्ति है। इसीलिए वह अपशु शक्ति कही गई है। वह जागृत होती है और योगी में क्रमशः दिव्य भावों का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञातृत्व की वृद्धि के साथ ज्ञेयत्व का प्रत्यभिज्ञान होता है। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कंध, अध्याय पंद्रहवें में श्री भगवान् उद्धव जी से योगी को आने वाली सिद्धियों के बारे में कहते हैं—

मद्भक्त्या शुद्धसत्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्म मृत्युपवृंहिता॥
—११.१५.२८

अर्थ—मेरी शक्ति के द्वारा जिस योग-धारणा के जानने वाले योगी की बुद्धि शुद्ध हो गई है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु के आवरण से मुक्त त्रिकाल के ज्ञानयुक्त होती है।

सर्वेषामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।'—११,१४,३४
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ।।

अर्थ—सब सिद्धियों का हेतु, पति और प्रभु मैं हूँ। योग, सांख्य और ब्रह्मवादियों का धर्म मैं ही हूं। जिन शुद्ध तत्त्वों का अनुसंधान करने को कहा गया है, वे शैव-दार्शनिकों के मतानुसार नीचे दिये जाते हैं। सृष्टि के पूर्व ब्रह्म तत्त्व परम-शिव के प्रथम उन्मेष से उदित शक्ति सहित प्रथम और द्वितीय शिव एवं शक्ति, दूसरा उन्मेष सदाशिव (आधा अङ्ग शिव और आधा अङ्ग शक्ति अर्द्धनारीनटेश्वर अथवा सृष्टि के बीजवत्), तीसरा उन्मेष ईश्वर और शुद्ध विद्या। शिवशक्ति का स्थान भ्रूमध्यस्थ आज्ञा चक्र, सदाशिव का स्थान विशुद्ध चक्र, ईश्वर और शुद्ध विद्या का स्थान हृदय अनाहत चक्र है। बाह्य दृश्य-प्रपंच में रागमुक्त भाव से अनन्त काल, अनन्त आकाश और अनन्त भगवत् शक्ति की अनन्त नामरूपात्मिका सृष्टि के मनन, चिन्तन एवं विवेचन द्वारा उदासीन दृष्टि रखनी चाहिये।

योगश्री पीठ, **—स्वामी विष्णुतीर्थ**
मुनि-की-रेती (ऋषिकेश)।

क्षेमराज विरचित

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

[प्रणयनकाल : दशवीं शताब्दी]

७

[शैव दर्शन का यह एक छोटा-सा बीस सूत्रीय ग्रन्थ है। इसके अनुसार चित्त, जिसे सिद्ध चेतन मन्त्र रूपी मातृका शक्ति की पीठ होने के कारण मन्त्र ही कहा है, चिति शक्ति की संकुचित ग्रन्थि है। आत्मा का चेतन प्रकाश उस पर प्रतिभासित होकर, अपने विभुत्व को भूलकर, अपने को चित्त-रूप अणु मानने लगता है। चेतन मन्त्रों के जप-अनुसंधान द्वारा ज्यों-ज्यों चिति शक्ति की विकासरूपी जागृति को बल-लाभ होता है, चित्त रूपी ग्रन्थि खुलने लगती है और आत्म तत्त्व का चेतन प्रत्याभास रूपी तादात्म्यभाव भी उस विकास के साथ-साथ विकसित होता है। चित्त-ग्रन्थि के सर्वथा खुलने से,

चित्त के चितिशक्ति में आत्मसात् हो जाने पर, चित्तात्म अणुभाव का क्षय हो जाता है और उसमें पूर्व-अनुस्यूत विद्यमान ब्रह्मभाव अपनी वास्तविक पूर्णावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् उसकी भ्रान्ति: आंशिक अल्पज्ञता का अभाव हो जाता है,—जैसे ओस-कण पर चमकने वाला अणुरूप प्रकाश सूर्यताप द्वारा ओस-कण के विलीन होने पर विभुप्रकाश से एकता को प्राप्त हो जाता है।]

१ चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः।

अर्थ—विश्व की सृष्टि-स्थिति-संहार रूपी सिद्धि का कारण चिति-शक्ति स्वतन्त्र है।

सांख्य त्रिगुणात्मिका शक्ति को, जिसे प्रधान कहा जाता है, सृष्टि का कारण कहता है। वह तीनों गुणों की साम्यावस्था में अव्यक्त और विषमावस्था में व्यक्त होकर सृष्टि की रचना करती है तथा विपरीत दिशा में होने पर विश्व को अव्यक्त (अपने) में विलीन कर लेती है। परन्तु वह शक्ति चेतन पुरुष से भिन्न, विजातीय, असंग होने के कराण चेतन नहीं है। आधुनिक विज्ञान की भौतिक विभु (समष्टि) शक्ति Cosmic Energy भी चेतना रहित है।

वेदान्त मत के अनुसार इस जगत् का कारण ब्रह्म है। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्म सूत्र १, १, २), परन्तु ब्रह्म अपरिणामी है और शक्ति की परिणति का कार्य विश्व प्रत्यक्ष है, इसलिए यदि वह शक्ति सांख्य के प्रधान से भिन्न है, जैसा कि ब्रह्म सूत्रों में

सांख्य के प्रधान-कारणवाद का निराकरण किया गया है, तो उसका स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है— 'तदधीनत्वादर्थवत् (१, ४, ३)' अर्थात वह शक्ति ईश्वर के अधीन होने के कारण अर्थवती (सार्थक) है। ब्रह्म सत् चित् स्वरूप है (सच्चिदेकं ब्रह्म), उसकी शक्ति भी सच्चित् रूपा है। गौड़पादाचार्य सुभगोदयस्तुति में स्तुति करते हैं—'भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित सुख वपुः' अर्थात् 'हे भवानि, मैं तुझ सच्चिदानन्दविग्रहा की वन्दना करता हूं।' यहां उसे सत् चित् रूपा न कहकर चिन्मयी चिति शक्ति कहा गया है। प्रश्न होता है कि यहां उसे स्वतन्त्र क्यों कहा गया है ? शक्ति शक्तिमान् से भिन्न होती ही नहीं क्योंकि उनका परस्पर आधेय-आधार एकात्म सम्बन्ध है, इसी कारण ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा गया है।

या देवी सर्वभूतेषु चिति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

२ स्वेच्छया स्वशक्तौ विश्वमुन्मीलयति ।

अर्थ—अपनी इच्छा से अपने अनन्त सर्वज्ञ पूर्ण ज्ञान के आधार पर विश्व का उन्मीलन (विकास) करती है (उन्मीलन से शक्ति में परिणाम अभिप्रेत नहीं है, स्वप्नवत् दृश्य का प्रमेय रूप से प्रकट होना मात्र है। उन्मीलन को उन्मेष भी कहा जाता है।)

स्वेच्छया—'यथा धाता पूर्वमकल्पयत्।' यह सृष्टि जैसी धाता ने पूर्व में कल्पना की, तद्रूप है। इसलिए चितिशक्ति को धाता की कल्पना, कामशक्ति अथवा इच्छा शक्ति समझना चाहिये। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' धाता पूर्ण है, उस की इच्छा शक्ति भी पूर्ण है और उस का कार्य यह विश्व भी पूर्ण है।

स्वमितौ स्वतः पूर्ण सर्वज्ञ होने से उस की इच्छा शक्ति भी सर्वज्ञता पूर्ण है।

उन्मीलन –उन्मीलन से निमित्त कारण और उपादान कारण की अभिन्नता बताई गई है। इच्छा शक्ति में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों का समावेश होता है अर्थात् विश्व चिति शक्ति का विकास मात्र है। उन्मीलन के स्थान पर उन्मेष शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

विश्व में नानात्व क्यों है? इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

३ तन्नामा अनुरूप ग्राह्यग्राहक भेदात्।

वह विश्व इच्छा के अनुरूप नाना रूप वाला होता है क्योंकि इच्छा शक्ति में इच्छा करने वाला और इच्छा का विषय दोनों होते हैं। इच्छा एक विषयी भी होती है और बहु विषयी भी, इसलिए ग्राहक-इच्छा के अनुरूप नाना ग्राह्य-विषय हो सकते हैं।

जैसी इच्छा होती गई, वैसी सृष्टि बनती गई। इच्छा शक्ति के विकास के साथ-साथ ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति व्यक्त होती गई, इसलिए तीनों शक्तियों को एक चिति शक्ति का उन्मेष अथवा उन्मीलन कहा गया है।

४ चिति संकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित विश्वमयः।

चिति शक्ति में संकीर्ण होने का धर्म होने के कारण नाना रूपों का निर्माण होता है। उसके साथ जो उसकी चेतन सत्ता है, वह अविभक्त अखण्ड विश्वमयी रहते हुए भी प्रतिरूप में विभक्त-सी संकुचित प्रतीत होती है,—जैसे घटाकाश, मठाकाश!

'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तं इव च स्थितम्।' —गीता १३,१६

५ चितिरेव चेतनपदादवरूढ़ा चैत्य संकोचिनी चित्तम्।

चेतन पद से गिरी हुई चिति का संकुचित रूप ही चित्त है जिसके कारण चेतना में भी तारतम्यता आ जाती है क्योंकि संकुचितरूप प्रमेय के अनुसार ही प्रमाता का ज्ञान होगा।

चित्त अनेक हैं, चिति सब में एक है, परन्तु विभक्त-सी होने के कारण जिस के खण्ड नहीं हो सकते, वही चेतना विभक्त दशा में चित्त, कहलाती है। काल, कला, नियति की छोटी-बड़ी परिधियों में सीमित होने पर इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया, तीनों शक्तियों के सीमित होने के कारण चिति के अनेक टुकड़े से दीखने लगते हैं जो चित्त कहलाते हैं अर्थात् विभु शक्ति में नाना अणु चितियों का निर्माण हो जाता है, जैसे समुद्र में तरंगों का अथवा वायु में चक्रवात बवण्डर का और पानी में भंवरों का। इसी को चिति का संकोचन कहते हैं।

६ तन्मयो माया प्रमाता।

(तत् चित्त के लिए प्रयुक्त है) तन्मयः अर्थात् चित्तमय माया के योग से चेतन प्रमाता होता है।

माया के पांच कञ्चुक कहे जाते हैं, काल, कला, नियति उनका सीमित बोध और राग। चिति शक्ति के अणुरूप चित्त की उपाधि से युक्त होने पर इन से ज्ञान शक्ति में प्रमाण की संकीर्ण भावना जागती है तथा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय का जन्म होता है और वह जीवात्मा पुरुष कहलाने लगता है। इसलिए माया, काल, नियति, विद्या, राग और पुरुष को विद्या कला कहा जाता है। माया का अर्थ माप में डालने वाली है, इसीलिए पुरुष को प्रमाता कहा जाता है।

७ स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्त पञ्चक स्वभाव:

वह चेतन रूप प्रमाता एक होने पर भी चार अङ्ग वाला है, उस की त्रिमयी त्रिपुटी के दो रूप हैं और सात पञ्चक उस का स्वभाव है।

चेतन-प्रमा उस का एक ही स्वरूप है, परन्तु प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के कारण वह चार अङ्ग वाला है। प्रमेय काल्पनिक और साक्षात् होने से द्विधा है एवं पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि तथा अहंकार के योग से काल, कला, नियति, विद्या और राग के पांच कञ्चुकों के कारण सात पंचकों के स्वभाव वाला है।

कई प्रतियों में पाठान्तर में 'द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा' है। इस पद से चेतन प्रमाता के दो रूप त्रिमय और चतुरात्मा स्वतंत्र विशेषण अभिप्रेत होंगे। सूत्र ४ में विश्वमय चेतन के संकोचानुसार ये सप्तपंचक ७×५=३५ तत्व-रूप-स्वभाव कहा गया है अर्थात् यह विश्व चेतन-ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु चिति के संकोचन के साथ दो रूप वाला अर्थात् प्रमाता और प्रमेय रूप से दीखता है। पहले में चेतन प्रधान है, दूसरे में चिति (संकुचित प्रधान इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तिमय)।

शिव, सदाशिव, ईश्वर और पुरुष चतुरात्मा हैं। सात पंचक इस प्रकार हैं -ईश पंचक नित्य, सर्वशक्तिमय, पूर्ण, सर्वज्ञ और पूर्णकाम जो माया के योग से काल, कला, नियति, विद्या और राग का रूप धारण कर लेते हैं, यह प्रथम पंचक है। दूसरा पंचक--५ कलाएं शान्तातीता, शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। तीसरा पंचक अव्यक्त, महत्बुद्धि और सात्विक, राजसिक, तामसिक त्रिविध अहंकार। चौथा पंचक -५ ज्ञानेन्द्रिय। पांचवां पंचक—५ कर्मेन्द्रिय। छठा पंचक—५ तन्मात्रा और सातवां पंचक - ५ महाभूत।

८ तद् भूमिकाः सर्वदर्शन स्थितयः ।

सर्वत्र सदा दर्शन अर्थात् किसी भी वस्तु के देखने पर वह वस्तु क्या है ? यह स्थिर होना तंत् प्रमाता की पूर्व संस्कारों की भूमिका के अनुरूप होता है। जो वस्तु देखी जाती है, उसे प्रमेय कहते हैं। वह वस्तु क्या है ? यह प्रमाता अपने संस्कारों के अनुसार प्रमाणित करता है। उदाहरणार्थ रज्जु के दर्शन से उसे सर्प जानना,—रज्जु में सर्प का आरोप प्रमाता की भूमिका के अनुरूप स्थित हुआ। एक ही स्त्री को पति पत्नि. पिता पुत्री और भ्राता बहिन के रूप में देखता है। माता बालक को वात्सल्य-प्रेम से और सपत्नी ईर्ष्या-द्वेषपूर्ण दृष्टि से देखती है।

यदि दर्शन से दार्शनिक विचारों की विभिन्नता का अर्थ लिया जाए तो सूत्र का अर्थ यह होगा कि प्रत्येक की विचारधारा उसके चिति शक्ति के संकोचन के विभिन्न स्तरों पर खड़े होने के दृष्टिकोण के अनुसार होने के कारण, सभी इस दर्शन के अन्तर्गत हैं।

९ चिद्वत्तच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी ।

चितिशक्ति में चिद् अर्थात् चेतना है और शक्ति है। जब चिद् का संकोचन होता है, तब शक्ति का भी संकोचन होता है। शक्ति के संकोचन से मलों का आवरण आ जाता है और प्रमाता संसार में फंस जाता है।

मल तीन हैं - (१) माया मल (२) आणव मल और (३) कर्तृत्व-भोक्तृत्व मल। माया की काल, कलादि पांच सीमाओं में संकुचित होने के कारण तीनों आवरणों से प्रमातृ ज्ञान आवृत हो जाता है, वह अपने को एकदेशीय अणु समझने लगता है अर्थात् अल्पज्ञ हो जाता है और राग के वशीभूत कहता है,—'मुझे यह कार्य करना है, यह करता हूं, यह सुख-दुःख भोगता हूं' इत्यादि।

१० तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति ।

तथापि वह चिद्वत् पांच प्रकार के कृत्य करता है। पांच कृत्य अगले सूत्र में कहे गये हैं।

११ आभासानरक्तिविमर्षन बीजावस्थापन विलापनस्तानि ।

अर्थ—वे कृत्य आभासन, अनरक्ति, विमर्षन, बीजावस्थापन और विलापन के आधार पर पांच प्रकार के हैं।

नवें सूत्र में मलावृत संसारी प्रमाता को चिद्वत् कहा है। ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है अर्थात् उस की चित् शक्ति मलावृत नहीं है। दसवें सूत्र में तथापि शब्द से कहा गया है कि मलावृत संसारी होते हुए भी उस के पांच प्रकार के कृत्य ईश्वर के पांच कृत्यों के सदृश होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

आभासः—ईश्वर - 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' जीव प्रमाता भी अपनो चेतना से देह-इन्द्रियों को चेतना युक्त करता है।

अनरक्तिः - 'असंगोऽयमात्मा।' पापों से छूटने के लिए प्रायश्चित्त अनुतापादि करता है, उन्हें अपना स्वभाव नहीं समझता वरन् अपने ऊपर मलवत् आरोपित समझता है, सदा मृत्यु से डरता है जो उस के अमर होने का द्योतक है अर्थात् मृत्यु को विजातीय समझता है।

विमर्ष ईश्वर के सदृश शक्ति जीव में भी है।

बीजावस्थापनम्—प्रतिदिन सुषुप्ति की अनिवार्यता अनुभव करना, निद्रा में सुख अनुभव करना।

१२ तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहिता संसारित्वम् ।

परन्तु यह न जानने के कारण कि उक्त पांचों शक्तियां

ईश्वर के समान हैं, उनको अपनी शक्ति समझकर मोहयुक्त होना ही उसका संसारीपना है।

१३ तत्त्वपरिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपराध्यारोहात् चितिः।

तत्त्व का ज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखी ध्यान द्वारा चेतनाभिमुख ऊपर उठकर चिति रूप हो जाता है।

यह सूत्र पांचवें सूत्र का उलटक्रम बतलाता है। वहां चिति का चित्त के रूप में होना बताया गया था, यहां चित्त का संकोचन त्यागकर चिति रूप हो जाना कहा गया है।

१४ चितिवन्हिरवरोहपदेच्छन्नोऽपि मात्राया मेयेन्धनं प्लुष्यति।

चिति रूपी अग्नि चित्त के रूप में नीचे उतर कर विच्छिन्न हुई भी अपनी मात्रा के अनुपात से प्रमेय रूपी ईंधन में जलती है अर्थात् प्रकाशित करती है। भाव यह है कि प्रमेय विषय का ज्ञान प्रमाता को कराती है, जैसे अन्धकार में अग्नि-प्रज्वलित ईंधन दृष्टिगोचर होता है।

१५ अललामे विश्वमात्मसात्करोति।

सुन्दर न होने पर भी विश्व को अपने जैसा बना देती है अर्थात् जड़ता में चेतन भाव ला देती है अर्थात् विश्व सब को चेतनवत् दिव्य दीखने लगता है। कई प्रतियों में पाठान्तर में 'अललामे' की जगह 'बललाभे' है अर्थात् चिति शक्ति के विकास द्वारा प्रपंच में जड़ता के स्थान पर चेतन भाव की प्रतीति होने लगती है, जैसे कोयले के धधकते अंगारों में अग्नि की।

१६ चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यभानेष्वपि चिदैकात्म्य प्रतिपत्तिस्तदर्थं जीवन्मुक्तिः ।

१७ मध्य विकासाच्चिदानन्द लाभः ।

चिदानन्द के प्राप्त होने पर देहादि में चेतना विद्यमान रहते हुए भी चिदैक्यात्मता (मैं देह नहीं हूं, चित्स्वरूप हूं) की अनुभूति होती है। वह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

चिदानन्द की प्राप्ति चिच्छक्ति के पूर्ण विकास से पूर्व की अवस्था है।

१८ विकल्पक्षय शक्तिसंकोचविकास वाहच्छेद वीथ्याद्यन्त कोटि निभालनादय इहोपायाः ।

विकल्पों के क्षय द्वारा शक्ति के संकुचन के विकास-प्रवाह में छेद अर्थात् खण्डों की वीथी (प्रवाह) जो आरम्भ और अन्त कोटि के अन्तरालीय (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय) सहित ज्ञानादि से अनुभूति विमर्ष (समझ-बूझ) एवं धारणा-ध्यान-समाधि अभिप्रेत है, यहां उपाय अर्थात् साधनरूप हैं।

वासना के अभाव में चिति शक्ति के प्रवाह में एकतानता आ जाती है, क्योंकि विकल्पों के खण्डस्वरूप अन्तराय नहीं रहते। सूत्र ५ और १३ में चित्त और चिति का संबन्ध कहा गया है। चित्त को वासनाओं के संस्कारों द्वारा चिति के संकोचन की गठड़ी या ग्रंथि समझना चाहिए। संस्कार जितने दृढ़ होते हैं, संकोचन भी उतना ही दृढ़ होता है और चित्त में संकल्प-विकल्पों अर्थात् विचारों का तांता उदयास्त हुआ करता है। योग-दर्शन में विकल्प की व्याख्या इस प्रकार की है,—'शब्द ज्ञाना-

नुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः (१, ९)'—अर्थात् शब्दों का समूह जिनके ज्ञान के अनुसार किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं, वह विकल्प कहलाता है। चित्त में पूर्व-संचित वासनाओं के अनुसार विभिन्न विचार उठा करते हैं। संस्कारों के शिथिल होने पर विकल्पों का भी क्षय होता है और चित्त रूपी गठड़ी खुलने लगती है अथवा यों कहें कि चिति शक्ति की ग्रन्थि का वेध होने से वह अपने विकसित रूप में आने लगती है। परन्तु संस्कार एकदम तो नष्ट होते नहीं, इसलिए शक्ति का विकास-प्रवाह बीच-बीच में विकल्पों के उठने से तैलधारवत् अविच्छिन्न न होकर खण्ड-खण्ड टूटा रहता है। उन टुकड़ों के आदि-अन्त किनारों के बीच का अन्तराल ज्ञानयुक्त होने से उन विकल्पों की क्षीणता के अनुपात से उक्त विकल्प कम होंगे, खण्ड ज्ञान कम होता जाएगा और शक्ति के विकास का प्रवाह तैलधारवत् रहने लगेगा। संस्कारों का क्षय समाधि के संस्कारों से होता है। यह अगले सूत्र में कहा जाता है—

१९ समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयोभूयश्चिदैक्यामर्शात नित्योदित समाधिलाभः।

चित्त पर समाधि के संस्कार पड़ने पर व्युत्थान में पुनः पुनः चिति शक्ति के एक समप्रवाह का ज्ञान बिमर्ष होने पर नित्य समाधि का लाभ होगा। वह मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाएगा।

२० तदा प्रकाशानन्द महामन्त्र वीर्यात्मक पूर्णाहन्ता-वेशात् सदा सर्व सर्ग संहारकारिनिज संविद्देवता चक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवति इति शिवम्।

तब चिति शक्ति के प्रकाश का आनन्दामृत रूपी सार, जो महा मन्त्र की पूर्ण शक्ति युक्त है और--'ब्रह्मास्मि'--इस पूर्ण अहम् के आवेश के कारण सारे जगत प्रपंच के ज्ञान को निज आत्म संवित मात्र में विलीन करके विश्व (संसार) चक्र का ऐश्वर्य रूप है, -- प्राप्त हो जाता है अर्थात् शिव स्वरूप हो जाता है।

उपसंहार—

भवानि त्वां वन्दे भव महिषि सच्चित्सुख वपुः।

हे शंकर की पटरानी, भवानी, सत्-चित्-आनन्द-रूपे, ! मैं तेरी वन्दना करता हूं।

सत् से सत्तात्मिका, चित् से चेतन ज्ञानमयी और सुख से आनन्दमयी कहा गया है। चित् अर्थात् चिदात्म कहने में सत् एवं आनन्द दोनों के भाव भी निहित हैं। यहां उसे चिति अथवा चितिशक्ति कहा गया है। समस्त जगत् उसकी चेतना से प्रकाशित है! 'या देवि सर्वभूतेषु चिति रूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।' सूत्र ५ में चित्त को चिति शक्ति का संकुचित रूप कहा गया है अर्थात् चित्त और चिति एक ही हैं, मानो माया की सीमाओं से सीमित होकर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटि की परिधि में चिति अपने विभुत्व से च्युत होकर आणविक हो जाती है और विजातीय ज्ञेय विषयों की वासना के संस्कारों की ग्रन्थि अथवा गठड़ी सी बंध जाती है। इसी को उसका संकोचन कहा गया है। तेरहवें सूत्र में कहा गया है कि तत्त्व ज्ञान द्वारा जब चित्त अन्तर्मुखी होता है, तो बाह्य विषयों से विमुख हो कर तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसके संस्कार नष्ट हो जाते हैं और ग्रन्थि खुल जाने से चित्त पुनः चिति शक्ति में विलीन हो जाता

है। इसको चिति शक्ति का विकास कहा गया है। चिति के संकोचन से उसके आनन्द स्वभाव का संकोचन हो जाता है और सांसारिक विषयों के नैमित्तिक भोग सापेक्षिक दुःख-सुख के रूप में बाह्य-विषय-सुख प्राप्त होता जाना जाता है अर्थात् वह प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय की त्रिपुटि के सांचे में ढल जाता है। इसके विपरीत चित्त की ग्रन्थि खुलने पर चिति शक्ति के विकास के साथ आनन्द के रूप में व्यक्त होने लगता है क्योंकि आनन्द चिति का स्वभाव ही है। यह बात सूत्र १७ में कही गई है। तत्व ज्ञान समाधि में होता है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार एकदम नहीं धुलते, इसलिये, जैसा कि सूत्र १६ में कहा है, बार-बार समाधि द्वारा सब संस्कार नष्ट हो जाने पर नित्योदित सहज समाधि का लाभ होता है। शक्तिपात द्वारा दीक्षितों का अनुभव है कि शक्ति की जाग्रति के तुरन्त साथ एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। यह चिति शक्ति के आनन्द का मध्यकालीन आनन्दानुभव है। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का यही अभिप्राय है कि कुण्डलाकार संकुचित चिति शक्ति विकसित होती है। आनन्दावेश में चित्त की निर्विषयी एकाग्रता एकतान प्रवाहित होती है, परन्तु दृढ़ संस्कारों के वश वही आरम्भावस्था में खण्ड-खण्ड प्रवाहित है, जैसा कि सूत्र १८ में कहा गया है। इसीलिए श्री भगवान् गीता में कहते हैं —

शनैः-शनैः रुपरमेद् बुद्धया धृति गृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
— ६, २५

साधक अनुभव करता है कि एक ओर तो चिदानन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है और उसके साथ-साथ उसके चित्त के संकल्प-

विकल्पों का प्रवाह भी युगपद जारी है। साधक का लक्ष्य जिधर अधिक होता है, दूसरा प्रवाह स्वतः उस से दब जाता है। इसलिए साधक को चाहिये कि अपना लक्ष्य शक्ति पर से न हटने दे और आनन्दभोग के सामने अपने मनोराज्य की उपेक्षा रखे। शनैः-शनैः चित्त शान्त होने लगेगा और उसकी ग्रन्थि खुलने लगेगी। चित्त का स्थान हृदय में है, इसलिए नीचे उद्धृत श्रुति में कही गई हृदय-ग्रन्थि से चित्त-ग्रन्थि ही अभिप्रेत है—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अब एक दूसरे दृष्टिकोण से इस शास्त्र पर विचार करते हैं—

वेदान्त का कथन है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह जड़-चेतनमय जगत निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है। जगत में जड़ और चेतन दो विभाग दिखाई पड़ते हैं, दोनों में चेतन की प्रधानता है। सब प्राणीमात्र चेतन हैं, उनमें सुख की इच्छा, सुख का ज्ञान और सुख पाने की क्रियायें प्रधान रूप से विद्यमान हैं अर्थात् चेतना में इच्छा, ज्ञान, क्रिया और आनन्द चारों का समावेश है। इसीलिए ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है अर्थात् ब्रह्म चेतन है और आनन्दमय है। सत् से शक्ति, चित् से चेतना और आनन्द से आनन्द स्पष्ट है। यों कहें कि उसकी शक्ति चेतन है और उसे चिति शक्ति कहा जाता है। चिति शक्ति में इच्छा, ज्ञान, क्रिया और आनन्द चारों होने स्वाभाविक हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जड़ क्या है? शक्ति में इच्छा, ज्ञान, क्रिया और आनन्द की कमी को जड़ता कहा जाता है। यह शास्त्र

इसी को शक्ति का संकोचन कहता है। संकुचित होने का अर्थ सिकुड़ना है, जैसे भाप सिकुड़कर जल के बिन्दु और जल के बिन्दु सिकुड़कर बर्फ बन जाते हैं। चेतन जगत में चेतना की प्रधानता और जड़ता की अधीनता तथा जड़ जगत में चेतना की न्यूनता (अभाव प्रायः) होती है। शास्त्रीय भाषा में इसे चेतन शक्ति का अधिकतम संकोचन कहा जायेगा अर्थात् संकोच में चेतन की प्रधानता और अप्रधानता दोनों होती हैं। चेतन की प्रधानता होने से ज्ञातृत्व और जड़ता की प्रधानता से ज्ञेय – यही जगत् के दो जड़-चेतनात्मक भेद हैं। यही बात तीसरे सूत्र में कही गई है कि ग्राहक-ग्राह्य भेद से शक्ति के अनेक प्रकार के भेद देखे जाते हैं।

पांचवें सूत्र में चिति शक्ति के उस संकुचित रूप को जिसमें चेतना बनी है, चित्त कहा गया है। इसलिए चित्त अणुरूप है। उसका अभिमानी आत्मा चेतन ब्रह्म स्वरूप होने पर भी चित्त की संकुचित शक्ति के कारण अल्पज्ञ, संसारी होता है जिसे माया के काल कलादि पंच कंचुकों से आवृत पुरुष कहा गया है। चिति शक्ति के संकोचन के विकास द्वारा चिति शक्ति में पुनरावृत्ति होने पर चित्त को शुद्ध चैतन्य रूप की प्राप्ति होती है। इसीलिए शाम्भवोपाय में 'चैतन्यं आत्मा' और आणवोपाय में 'चित्तं आत्मा' कहा गया है।

आधुनिक भौतिक विज्ञानी विश्व को शक्ति का ही संकुचित रूप मानते हैं। उनके मतानुसार शक्ति जिस तरह संकुचित हो कर Electrone, Molecule आणविक रूप धारण कर लेती है, उसी तरह चेतन जगत में प्राणियों के चित्त-समूह को समझना चाहिए। अतः चित्त को अपना स्वरूप समझने वाला जीव अणु है और उसका वास्तविक चेतन स्वरूप चिति शक्ति के आणविक

संकोचन के विकास अथवा खुल जाने पर अवलम्बित है। जैसे पिघल जाने से बर्फ की जड़ता नहीं रहती, तद्वत् चित्त का पिघल कर अर्थात् संकुचित रूप त्याग कर चिति रूप में विकसित होना अणुभाव से शिव भाव प्राप्त करना है। यह बात १३वें सूत्र में इस प्रकार कही गई है कि चित्त ही चेतनपद पर आरूढ़ होने पर अन्तर्मुखी होकर चितिरूप हो जाता है।

जैसे आधुनिक भौतिक विज्ञान शक्ति को आग्नेय मानता है, जो प्रत्यक्ष देखने में आती है, उसी प्रकार वैदिक वाक्य के अनुसार 'अग्नि सोमात्मकं जगत' यह जगत अग्नि सोमात्मक है अर्थात् शक्ति रूप है। यहां भी १४वें सूत्र में चिति शक्ति को अग्नि रूप कहा गया है जो जड़ रूप प्रमेय-ईंधन को भस्म करके अग्नि-मय कर देता है। ईंधन को अग्नि का संकुचित रूप समझना चाहिए जो एक चिनगारी से स्वतः प्रज्वलित हो उठता है और अग्निमय विकसित हो जाता है। चित्त ईंधन और शक्तिपात द्वारा चिति शक्ति रूपी अग्नि की चिनगारी से उसे प्रज्वलित करना शक्तिपात् दीक्षा कहलाती है। कुण्डलिनी शक्ति को अग्नि कहते ही हैं। चित्त को चिति शक्ति का कुण्डलाकार अणुरूप और उसमें निहित सुप्त-शक्ति को कुण्डलिनी समझना चाहिए। गुरु द्वारा अपनी प्रज्वलित चितिरूपी अग्नि से शिष्य की ईंधन रूपी सुप्त शक्ति को प्रज्वलित करना शक्तिपात् साधन है। जैसे ईंधन में एक बार आग लग जाने से वह सर्वथा अग्निरूप हो जाता है, वैसे ही शक्तिपात् से मानव-चित्त का संकुचित रूप चिति शक्ति के रूप में परिणित हो जाता है। यह क्रम यहां १३ से अन्तिम २०वें सूत्र तक बताया गया है।

शक्तिपात् द्वारा दीक्षित प्रत्येक साधक का अनुभव है कि शक्ति की जाग्रति के साथ अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

इस का रूप भौतिक-विषयानन्द नहीं वरन् चिन्दानन्द है, यह बात 17वें सूत्र में कही गई है। शक्ति के विकास और संकोच-क्रम के अनुसार संकल्प-विकल्पों की न्यूनाधिकता होती है। संकल्प-विकल्पों का क्षय एकदम तो होना असम्भव है, परन्तु चिदानन्द की अनुभूति के साथ विकासोन्मुख चिति-शक्ति के प्रवाहों पर--जो खण्डरूप में प्रवाहित होते है लक्ष्य रखकर धारणा-ध्यान-समाधिपूर्वक शिवभाव की प्राप्ति के साधन का (18 से 20 सूत्र) उल्लेख किया गया है।

अणुरूप चित्त में तीन मल कहे जाते हैं। चिति शक्ति के संकोचन रूपी माया के योग से वह अणुरूप होता है, अणु होने से भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए कर्तापन का अभिमान करता है इसलिए उसे माया मल, आणविक मल और कर्तत्व मल से आवृत्त कहा गया है। साधक की साधन-यात्रा उस के अहंकार के अधीन नहीं है, वरन् वह चिति शक्ति का विकास-क्रम ही है। जैसे ईंधन को अग्नि जला देती है, उसी प्रकार चिति शक्ति का विकास आणव मल को जला देता है और साधक अपने को चिदानन्दमय अनुभव करता है। इस साधन को शाक्तोपाय कहा गया है। मायामल का निराकरण शाम्भवोपाय से होता है, तब साधक शिवस्वरूप हो जाता है।

वास्तव में न बन्धन है, न मोक्ष है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। जैसे ओस-कणों पर चमकने वाला प्रकाश सूर्य-प्रकाश से भिन्न नहीं है और ओस-कणों के सूर्य के ताप से उड़ जाने पर विभु प्रकाश ही रह जाता है, वैसे ही चिति शक्ति की अग्नि से शक्ति के प्रत्यक्ष होने पर चित्त रूपी अणु पर चमकने वाली आणविक अहंकार रूपी चेतना विभु चिन्मय हो जाता है।

पुस्तक-सूची

पुस्तक का नाम	मूल्य	पुस्तक का नाम	मूल्य
१. शक्तिपात	७-००	२१. साधन संकेत	३-००
२. साधन संकेत	३-००	२२. अध्यात्म-विकास	८-००
३. वैदिक-योग-परिचय	१०.००	२३. प्राणतत्व	५.००
४. उपनिषद-वाणी	३०.००	२४. गीता-तत्त्वामृत	३५-००
५. प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्	३-००	२५. गुरु परम्परा	६-००
६. शक्तिपात प्रश्नोत्तरी	८-००	२६. साधन-पथ	५-००
७. योग-विभूति	८-००	२७, साधन-सम्पदा	६-००
८. रास-रहस्यम्	५-००	२८. सौभाग्योदयम्	८-००
९. योगेन्द्र-चरित	८-००	२९. योगिकसहस्रधारा	५-००
१०. षटचक्र-निरूपण	६-००	३०. कुलार्णवतन्त्र	१-५०
११. योगवाणी	१२-००	३१. महायोग विज्ञान	३०-००
१२. गुरु-तन्त्र	४-५०	३२. ज्ञान-भेरी	२५-००
१३. द्वादशोपनिषद	२५-००		

१४. शिवसूत्र-प्रबोधिनी [शक्तिपात भाग-२]	१०-००
१५. Devatma Shakti (English)	३५-००
१६. सोन्दर्य-लहरी [संशोधित एवं परिवर्धित]	२५-००
१७. आत्म-प्रबोध	७-००
१८. पाताण्जल योग-दर्शन	८-००
१९. श्री नारायण-उपदेशामृत	८-००
२०. A-Guide to Shaktipat [English]	१८-००

प्राप्ति स्थान

१- योग श्री पीठ आश्रम, मुनी की रेती, पोंस्ट शिवानन्द नगर-२४९ १९२, जिला टिहरी गढवाल [उ०प्र०]

२- विज्ञान मन्दिर, लक्ष्मणझूला रोड, ऋषिकेश-२४९ २०१, जिला देहरादून [उ० प्र०]।

३- श्री सन्यास आश्रम, नारायण कुटी देवास [म० प्र०]।